दिसंबर १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

समता धर्म

समता धर्म है, विषमता अधर्म। समता अनासक्ति है, विषमता आसक्ति। जहां आसक्ति है वहां दुख ही है। जहां अनासक्ति है वहीं सच्चा सुख है, सच्ची शांति है।

विपश्यना साधना द्वारा हम देखते हैं कि शरीर पर आधारित इस चित्तधारा में विविध कारणोंसे समय-समय पर सुखद और दुखद दोनों ही प्रकार की संवेदनाएं प्रकट होती रहती हैं। सुखद संवेदना हमें प्रिय लगती है और उसके प्रति राग पैदा होता है। परिणामतः उसे कायम रखने के लिए हम आतुर हो उठते हैं। वह छूट न जाय, इस निमित्त आशंकित-आतंकित हो उठते हैं। असुरक्षितता की बेचैनी महसूस करने लगते हैं। परंतु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के कारण यह सुखद संवेदना नष्ट होती ही है। और जब दुखद संवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति कितना द्वेष जागता है! उसे दूर करने के लिए कितने आतुर हो उठते हैं! क्या यह कभी दूर नहीं होगी! इस भय-आशंका से आतंकित हो उठते हैं। फिर असुरक्षा की बेचैनी में जकड़ जाते हैं। दोनों ही अवस्था में अशांत, बेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती ही है। असुरक्षा की भावना जागती ही है। मन अपना संतुलन खो ही बैठता है। यही विषमता है। सुखद-दुखद स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहीन रहता हो तो ही अनासक्त रहता है। सदा सुरक्षित महसूस करता है, अपना संतुलन नहीं खोता, शांत रहता है।

सुखद-दुखद स्थिति के प्रति पूर्ण संवेदनशील और जागरूक रह कर भी अविचलित रहना ही समता है। समता चट्टानी जड़ता नहीं है, मरघट की शांति नहीं है। जहां चित्त को उत्तेजित करनेवाले आलंबन उद्दीपन ही न हों, वहां समता सही समता है यह कैसे कहा जा सकता है! जहां उत्तेजित करनेवाले आलंबन उद्दीपन हों तो भी, उत्तेजित हो सकनेवाला चित्त ही सुसुप्त हो, वहां भी समता सही समता है यह कैसे कहा जा सकता है! समता नकारात्मक नहीं है; मूढ़ता, मूर्छा, कुंठा नहीं है। कोई हमें भाजी की तरह काट जाय और हमें पता ही न चले, ऐसी अचेतन अवस्था नहीं है। यह कोई एनिस्थीसिया की सूंघनी नहीं है, मॉर्फिन का इन्जेक्शन नहीं है। पूर्ण चेतन रहें, फिर भी सम रहें तो ही सम हैं। नहीं तो गहरी नींद में सोने वाला अथवा मूर्छित अथवा मूढ़ व्यक्ति समता का दंभ भर सकता है।

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुखद से मुरझा जाना ही तो वैषम्य है। दोनों के रहते संतुलित-समरस रहना ही समता है। परंतु समता हमें अशक्त और कर्मशून्य नहीं बनाती। सच्ची समता आती है तो प्रवृत्ति जागती है। ऐसी प्रवृत्ति परम पुरुषार्थ का रूप धारण करती है। परम पुरुषार्थ में अपने-पराये का भेद नहीं रहता। ऐसी पुरुषार्थ-प्रदायिनी समता जितनी-जितनी सबल होती है जीवन में उतना-उतना मंगल उतरता है। आत्म मंगल भी, जन मंगल भी। समता जितनी दुर्बल होगी उतना ही अपना भी अनर्थ होगा, औरों का भी।

समता-धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है, पलायन नहीं है, जीवन-विमुख होना नहीं है। समता धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। जीवन से दूर भाग कर आखिर कहां जायँगे? विषयों से दूर भाग कर कहां जायँगे? सारा संसार विषयों से भरा पड़ा है। विषय हमारा क्या बिगाड़ते हैं? न वे हमारे शत्रु हैं, न मित्र। न वे भले हैं, न बुरे। भला-बुरा है उनके प्रति हमारा अपना दृष्टिकोण – अनासक्त दृष्टिकोण अथवा आसक्त दृष्टिकोण, सम दृष्टिकोण अथवा विषम दृष्टिकोण। यदि हम विषय से दूर भागने के बजाय विषयों से उत्पन्न होने वाले विकारों को समता से, अनासक्ति से देखना सीख जायँ तो उन विषयों के रहते हुए भी विकारों को निस्तेज कर ही लेंगे। समता से, अनासक्ति से देखना ही विशेषरूप से देखना है, प्रज्ञापूर्वक देखना है, सम्यक दृष्टि से देखना है। यही विदर्शना है, यही विपश्यना है। समतामयी विपश्यना की दृष्टि प्राप्त होती है तो "मैं-मेरे" का और "राग-द्वेष" का कोहरा दूर होता है। जो जैसा है वैसा ही दीखता है। और तब हम अंध प्रतिक्रिया करना छोड़ देते हैं। समता की सुदृढ़ भूमि पर स्थिर होकर हम जो कुछ करते हैं वह शुद्ध क्रिया ही होती है, प्रतिक्रिया नहीं। इसलिए कल्याणकारी ही होती है, अमंगलकारी नहीं।

भीतर चित्तधारा में उठने वाली सुखद-दुखद संवेदनाओं के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है तो बाह्य जीवन में सहज समता प्रकट होने ही लगती है। बाह्य जीवन-जगत की सारी विषमताएं आंतरिक समता को भंग नहीं कर पाती। जीवन में आते रहने वाले उतार-चढ़ाव, वार-भाटे, बसंत-पतझड़, धूप-छांह, वर्षा-आतप, हार-जीत, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि द्वंद्वों से मन विचलित नहीं हो पाता। सारी स्थितियों में समरस बना रहता है।

आंतरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है। इसी से हजार प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी अपनी सुरक्षा का मिथ्या भय दूर होता है। जीवन में वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है। अगले क्षण क्या हो जायगा! इसके लिए चिंतित व्यथित, आकुल-व्याकुल नहीं होता। मेरे पुत्र-कलत्र, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, सत्ता-शक्ति, स्वास्थ्य-आयु सुरक्षित रहेंगे या नहीं! इन निरर्थक चिंताओं से विमुक्ति प्राप्त होती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रमत्त प्रयास, जीवन जगत की सतत प्रवाहमान धारा को रोक रखने का उन्मत्त आग्रह, पानी के बुदबुदों को मुट्ठी में भींच कर 'मेरा' बनाए रखने का निपट-निरर्थक प्रयत्न सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता-विषमता, खिंचाव-तनाव स्वतः दूर होने लगते हैं। परिस्थितियों की बदलती हुई लहरों पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। नितांत कर्मशील रहते हुए भी परिणामों के प्रति उन्मुक्त निश्चिंतता आती है और साथ-साथ व्यवहार कौशल्य में प्रौढ़ता आती है। यही समता धर्म का मंगल परिणाम है।

समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कर्मों में शुद्धता

आती है, उनमें सामंजस्य आता है। परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। वात-पित्त-कफ में विषमता आ जाय तो शरीर रोगी हो जाय। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के कर्मों में विषमता आ जाय तो जीवन रोगी हो जाय। मन में कुछ हो, बोले कुछ और, करे कुछ और, तो अस्वस्थ ही हो जायँगे। ताल-स्वर-लय की समता में जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन-वाणी-शरीर के कर्मों की समता में भी तन्मयता आती है। परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से परे है, श्रेष्ठ है।

समता ही स्वस्थता है। मन की समता नष्ट होती है तो ही नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक भी और परिणामतः शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीने वाला कलावंत व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीने वाले का अहंभाव आत्मभाव नष्ट होता है। वह अनात्म का मंगल जीवन जीता है। 'मैं' और 'तू' का विषमताभरा एकांतीय-एकपक्षीय दृष्टिकोण टूटता है। समता-समन्वय का अनेकांतीय-अनेकपक्षीय दृष्टिकोण पनपता है। विषमता आसक्ति की ओर झुकाती है। आसक्ति अतियों की ओर झुकाती है। और अतियों की ओर झुक जाने के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिदोष उत्पन्न होने लगते हैं। "केवल मेरी मुक्ति हो जाय, बाकी समाज भले जहन्नुम में जाय। यह पुत्र, यह कलत्र, यह भाई, यह बंधु सब बंधन हैं। मुझे इनसे क्या लेना-देना! मैं कैसे अपनी मुक्ति साध लूं! इनके भले-बुरे से मुझे कोई लेन देन नहीं।" ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अतियों के एक अंत में उलझा रहता है। दूसरी ओर केवल "मैं और मेरे" परिवार की सीमित परिधि में आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति अतियों के दूसरे अंत में उलझा रहता है। समता-धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है। समता-धर्म आत्म-मंगल और पर-मंगल के समन्वय सामंजस्य का धर्म है। व्यक्ति जंगल के पेड़-पौधों की तरह स्थावर नहीं है। वह जंगम है। चलता-फिरता है और अन्य अनेक लोगों से उसका संपर्क, संबंध बना रहता है। आत्म शोधन के लिए कुछ काल एकांत वास करना और अंतर्मुखी होना आवश्यक व कल्याणकारी है। परंतु इस प्रकार शोधे हुए मन का बाह्य जगत में सम्यक प्रयोग हो तो ही धर्म पुष्ट होता है।

"मैं" के संकुचित बिंदु से चिपका रहने के कारण ही दृष्टि धूमिल हो जाती है कर्म-सिद्धांत की वैज्ञानिकता स्पष्ट समझ में नहीं आती। आसक्तिजन्य अतियों की ओर झुक जाता है और यह मानने लगता है कि हर व्यक्ति केवल अपने पूर्व कर्मों से ही प्रभावित होता है। औरों के कर्मों से उसे कत्तई लेना-देना नहीं। जबकि सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति अपने कर्मों से तो प्रभावित होता ही है। परंतु सारे समाज के कर्मों से भी कम प्रभावित नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्मों का फलित पुतला तो है ही, परंतु समग्र मानव समाज की अब तक की प्रगति या प्रतिगति की विरासत भी लिए ही हुए है। हमारे कर्म हमें तो प्रभावित करते ही हैं, परंतु कमोबेश औरों को भी प्रभावित करते ही रहते हैं। हम अपने कर्मों की विरासत अपनी भवधारा को तो दे ही रहे हैं, परंतु साथ-साथ आने वाली पीढ़ियों को भी कुछ न कुछ दे ही रहे हैं। न व्यष्टि समष्टि से अछूता रह सकता है और न समष्टि व्यष्टि से। न व्यक्ति समाज से अछूता रह सकता है और न समाज व्यक्ति से। दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समुदाय के संबंधों में समता, सामंजस्य की स्थापना ही शुद्ध धर्म का मंगल परिणाम है। समता का शुद्ध धर्म जितना-जितना विकसित होता है, व्यक्ति उतना-उतना "मैं" के संकुचित बिंदु से आगे बढ़ता है। यह "मैं" का बिंदु ही है जो कि अपने ईद-गिर्द 'मेरे' के वृत्त पैदा करता रहता है। शनैः शनैः इस 'मेरे' के वृत्त की संकीर्णता भी दूर होती है। 'मेरे' का वृत्त विकसित होते-होते, साम्य की पूर्णता प्राप्त होने पर असीम हो जाता है।

जब तक 'मैं' की संकीर्णता में आबद्ध रहता है तब तक इस 'मैं' के लिए किसी की भी हानि करने में नहीं सकुचाता। दायरा जरा-सा बढ़ता है तो जिन्हें 'मेरा' कहता है, उनकी हानि करने से रुकता है। 'मैं' के दायरे से निकलता है तो 'मेरे' के संकुचित दायरे तक सीमित हो जाता है– 'मेरी' पत्नी, 'मेरा' पुत्र के दायरे तक। उससे और आगे बढ़ता है तो मेरा कुल, मेरा गोत्र, मेरा वर्ण, मेरी जाति, मेरा संप्रदाय, मेरा प्रदेश, मेरा राकी परिधि में अटक कर रह जाता है। समता धर्म में परिपुष्ट होता है तो ये परिधियां भी टूटती हैं। मानव मात्र के ही नहीं, प्राणिमात्र के हित-सुख में अपना हित-सुख देखता है। किसी भी प्राणी के हित-सुख का हनन करके अपने हित-सुख की कुचेष्टा तो दूर, ऐसा चिंतन तक नहीं कर सकता।

जहां दायरे हैं वहां विषमता ही है। दायरा जितना संकुचित है विषमता उतनी ही तीव्र है। साम्य का उतना ही अधिक अभाव है। साम्य के अभाव के कारण ही जो 'मैं' हूं, जो 'मेरा' है, उसके हित-सुख के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए जो 'मैं' नहीं हूं, जो 'मेरा' नहीं है उसकी हानि की जाती है। जब तक ऐसा है तब तक जीवन पाप से ही भरा रहता है। जो 'मैं-मेरा' है उसके लिए 'एक कण' भी जुटा सके तो जो 'मैं-मेरा' नहीं है उसका 'एक मन' भी मिट्टी में मिलाते हुए नहीं हिचकते। 'मैं-मेरे' के लिए किसी दुर्बल के मुँह का कौर छीनते हुए नहीं झिझकते। 'मैं-मेरे' के अंधेपन में जघन्य से जघन्य पाप कर्म भी अनुचित नहीं लगता।

विषमता 'मैं-मेरे' की, 'अहं-ममं' भाव की जननी है। अहं-ममं भाव विषमता का पोषक है। अहं-ममं भाव के कारण ही हम तीव्र लोभ के वशीभूत होकर संग्रह-परिग्रह करते हैं और अनेकों को अभावग्रस्त कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। तीव्र दंभ के वशीभूत होकर ऊंचे कुल, ऊंचे वर्ण, ऊंची जाति का नशा सिर पर चढ़ाते हैं और समाज में ऊंच-नीच का भेद-भाव पैदा कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। सत्ता के मद में मदहोश होकर निर्बल और भोले लोगों का दमन और शोषण करते हैं और सामाजिक समता की हत्या करते हैं। इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने अहं का पोषण करते हुए, वैषम्य पैदा करते हैं। औरों के समान अधिकारों को कुचलते हुए निर्मम पैशाचिक व्यवहार करते हैं और अपने तथा अन्य सबों के दुख का कारण बनते रहते हैं। यह सब समता के अभाव के कारण ही होता है। अपने-पराये का भेद मिटा कर साम्यभाव आए तो ऐसी नृशंसता कर ही न सकें। यदि मैं मिलावट की औषधि बेचने वाला लोभी व्यापारी हूं तो अपने बीमार बेटे को वैसी औषधि कभी नहीं देता। अपने और पराये का भेद दूर हो तो किसी को भी मिलावट की

औषधि नहीं दूंगा। यदि मैं रिश्वतखोर शासक हूं या शासनाधिकारी हूं तो अपने बेटे से रिश्वत कभी नहीं लेता। अपने और पराये का भेद दूर हो तो किसी से भी रिश्वत नहीं लूंगा। यदि उच्च वर्ण के मिथ्या दंभ का शिकार हूं तो अपने पुत्र को अछूत कह कर कभी नहीं दुतकारता। अपने और पराये का भेद दूर हो तो किसी को भी अछूत कह कर नहीं दुतकारूंगा। अपने और पराये का भेद दूर होना ही वैषम्य का दूर होना है। सर्वमंगलकारी साम्यभाव का प्रतिष्ठापित होना है।

जहां शुद्ध साम्यभाव प्रतिष्ठापित होता है, वहां 'स्व' और 'पर' की सीमा टूटती ही है। परिणामतः शोषण मिटता है, सहकारिता आती है। क्रूरता मिटती है, मृदुता आती है। अन्याय मिटता है, न्याय आता है। संकीर्णता मिटती है, विशालता आती है। अहंभाव-हीनभाव मिटता है, भ्रातृभाव आता है। अधर्म मिटता है, धर्म आता है।

एक ओर अपने मिथ्या स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भयभीत और आतंकित होकर किसी दुर्बल व्यक्ति को कोहनी मार कर नीचे गिराने और उसे पांव तले रौंदने की क्रूरता और दूसरी ओर योग-क्षेम से परिपूर्ण होकर निर्भय रहते हुए सब के हित-सुख में ही अपना हित-सुख देखने की विशाल हृदयता, इन दोनों के बीच की सारी स्थितियां समता धर्म के विकास की ही सीढ़ियां हैं।

समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह-सौहार्द आता है, सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज भाव से ही आ जाते हैं। इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये सब नहीं आ रहे हैं तो अवश्य कुछ कमी है। अभी जीवन में सही विपश्यना, सही समता नहीं आयी है। समता की साधना के नाम पर कोई छलना आयी होगी, कोई माया आयी होगी, कोई धोखा आया होगा। दार्शनिक बुद्धिविलास का एक और चमकीला लेप आया होगा। अवश्य ही अंतर्मन अभी विषमता से भरा हुआ है। अपने आपको इसी कसौटी से कस कर जांचते रहना चाहिए।

सचमुच समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरों का हितसाधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा। दीये की बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में लोगों को प्रकाश ही देती है। धूप बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में सब को सुवास ही देती है। चंदन की लकड़ी स्वयं कटती है पर बदले में सब के लिए सुरभि ही बिखेरती है। फलवाला वृक्ष स्वयं पत्थर की मार सहता है पर बदले में सब को फल ही देता है। और यह सब कुछ सहजभाव से होता है समता सहज हो जाय तो सब के मंगल का स्रोत खुल जाय।

अतः साधको आओ! ऐसे सर्वमंगलमय समता-धर्म में स्थापित होने के लिए अभ्यास करें! अभ्यास करें! अभ्यास करें!!

मंगल मित्र,
सत्यनारायण गोयन्का
(नए साधकों के लाभार्थ 'विपश्यना' के वर्ष ४, अंक ५ का पुनर्मुद्रण)

मंगल मृत्यु

** धम्म सरोवर, धुळे की सूचनानुसार नंदुरबार के श्री चंद्रकांत यादव जानवे जो कि अपना पहला शिविर मई ९२ में और दूसरा नवंबर ९२ में किया था, सामूहिक साधना में भी भाग लेते रहे तथा सेवाकार्य से भी जुड़े रहे। इनके परिवार के सभी सदस्य साधक हैं। इनकी मृत्यु बहुत शांतिपूर्वक हुई।

** टोंक के साधक श्री रामरतन कोली की मृत्यु अजमेर में हुई। मृत्यु के संबंध में अजमेर के श्री. भँवरसिंह सहवाल लिखते हैं, "लगता है धर्म-तरंगों के बीच जागृत व सजग अवस्था में शांतभाव से अपने प्राण त्यागे हैं। संभवतः उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास था, तभी दो महीने पहले अपने घरवालों के लिए एक पत्र लिख छोड़ा था, जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं, '... चाहे टोंक में या अजमेर में मरूं, शव की दाहक्रिया वहीं कर दी जाय।.. मरने के बाद कोई भी नहीं रोवे। जीने के समान ही मरने की क्रिया हुई है, ऐसा समझ कर मोह या मायूसी को पास न आने दें।.. मरते ही छह घंटों के भीतर दान किए हुए नेत्रों को दान की व्यवस्था करवा दें।.. किसी प्रकार के नुकते-गंगोज की रसोई कत्तई नहीं करें।.. आप सब 'विपश्यना' ध्यान को ही अपनावें। यह कोई संप्रदाय विशेष में दीक्षित होना नहीं है। मैंने जीवन का कल्याणकारी छोर विपश्यना में ही देखा और अनुभव किया है। कृपया इसको अपना कर अपना कल्याण साधें और दूसरों का भी कल्याण होने में सहायक बनें। विपश्यना को अपनाने की अंतिम इच्छा लिए हाथ जोड़ कर सभी छोटे-बड़ों से प्रार्थना करता हूं। – रामरतन, २० अगस्त ९६."

** काठमांडू से स. आ. सुश्री नानीमैया लिखती हैं, "पिताजी की मृत्यु के समय मैं उनके पास ही ध्यान करती हुई उन्हें भी प्रेरणा देती रही थी। ८० वर्ष की पकी अवस्था में अंतिम क्षण तक वे बहुत शांत और सजग रहे।"

साधकों के उद्गार

गोरखपुर विश्वविद्यालय के गणित के प्रो. डॉ. रमेश श्रीवास्तव लिखते हैं, "मैंने दूसरा शिविर सारनाथ में आ. श्री राठीजी के साथ लिया। यह कल्याणकारी विद्या पाकर मैं कृतज्ञ हो गया। केवल दो ही शिविर किये हैं पर जीवन की सारी विधा पारदर्शी हो गयी है। लगता ही नहीं कि कोई मुश्किल बात इस मानव जीवन में है। हर समय समता बनी रहती है। जीवन जीने की इस कला की शुरुआत मैंने आप के निर्देशन में इगतपुरी में की थी।... आप के चरणों में सादर नमन!"